साप्ताहिक
Live not just breaTHE

दि कार्मिक पोस्ट

MPHIN/2015/63220
MP/IDC1528/16-18

वर्ष : 6, अंक : 6 (प्रति बुधवार), इन्दौर, 30 सितम्बर से 6 अक्टूबर 2020 पेज : 8 कीमत : 3 रुपये

24 घंटे में 19 सेकेंड के बराबर है धरती पर मनुष्य की मौजूदगी

हम फिलहाल एक अभूतपूर्व पर्यावरणीय विखंडन के दौर से गुजर रहे हैं, जिसे एंथ्रोपोसीन का नाम दिया जा रहा है। जैसे-जैसे इस शब्द का इस्तेमाल व्यापक होता जा रहा है, एक मनोवैज्ञानिक और एक प्रतिबद्ध पर्यावरणविद के रूप में मुझे लगता है कि यह हमारे वर्तमान संकट की व्याख्या का काफी गलत तरीका है। मूलरूप से वायुमंडलीय वैज्ञानिकों और फिर भूवैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तावित एंथ्रोपोसीन हमारे वर्तमान युग के बारे में बात करने के एक उलझन भरे लेकिन शक्तिशाली तरीके के रूप में उभरकर सामने आया है। यह पृथ्वी के इतिहास में पहली बार हो रहा है जब केवल एक प्रजाति (मानव) इस पूरे ग्रह को रूपांतरित कर रही है।

एंथ्रोपोसीन शब्द का मतलब है कि पृथ्वी का भूवैज्ञानिक रिकॉर्ड मानव द्वारा रूपांतरित किया गया है। ग्रीक भाषा में एंथ्रोपोस का अर्थ मानव होता है और सीन वर्तमान, 6.5 करोड़ वर्ष पुराने सेनोजोइक युग की एक बड़ी समयावधि को दर्शाता है। यह उल्लेखनीय है कि यह विचार कितनी जल्दी सर्वव्यापी हो गया है। यह अब केवल अकादमिक ग्रंथों और सम्मेलनों तक ही सीमित न रहकर कला, कथा, पत्रिकाएं, यात्रा वृतांत, कविता, यहां तक कि ओपेरा का भी विषय बन चुका है। हालांकि मैं मानता हूं कि यह एक महत्वपूर्ण और समयानुकूल हस्तक्षेप है, लेकिन मैं एक पल के लिए यहां विराम लेना चाहता हूं और इस विषय पर विचार करना चाहता हूं कि क्या यह एंथ्रोपोसीन गाथा वास्तव में हमारी समस्याओं एवं संभावनाओं की कहानी है?

एंथ्रोपोसीन के विचार की पहले से ही काफी आलोचना हो रही है। कैपिटलोसिन (जो पूंजीवाद की हानिकारक ताकतों को उजागर करने का प्रयास करता है) और प्लांटेशनोसिन (जो उपनिवेशवाद की भूमिका पर जोर देता है और बंधुआ मजदूरी की ओर ध्यान आकर्षित करता है) को कुछ ऐसे विकल्पों के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो इस पर्यावरणीय संकट के लिए जिम्मेदार मानवीय गतिविधियों को अलग-अलग हिस्सों में बांटते हैं। ऐसा इसलिए किया गया है ताकि पृथ्वी के सारे मनुष्यों को एक समूह के रूप में देखना सही नहीं होगा और सबकी अपनी जिम्मेदारी सुनिश्चित करनी होगी। लेकिन मैं इन सब चीजों से हटकर, समय के पहलू पर अपना ध्यान केंद्रित करना चाहता हूं।

डीप टाइम

डीप टाइम भूवैज्ञानिक समय की अवधारणा है जिसका उपयोग पृथ्वी के इतिहास में घटित घटनाओं के बीच के समय और संबंधों का वर्णन करने के लिए किया जाता है। यह एक 454 करोड़ साल पुराना इतिहास है। समय के इतने बड़े खंड की परिकल्पना में हमें दिक्कत आती है क्योंकि यह समय डीप अथवा गहरा है। इस विशालता को समझने में हमारी मदद करने के लिए कई उपमाएं हैं, जैसे घड़ी के 24 घंटे को पृथ्वी का कुल समय मान लें तो हमें पृथ्वी पर आए केवल 19 सेकेंड ही हुए हैं।

इसी तरह अगर यह मान लें कि पृथ्वी की शुरुआत 454 करोड़ वर्ष पहले हमारे कंधे पर हुई हो तो सबसे पहले जानवर हमारी हथेलियों पर उत्पन्न हुए होंगे और वैसे जानवर जिनसे हम परिचित हैं, उनका जन्म हमारी उंगलियों के पोरों के आसपास हुआ होगा। उंगलियों के बराबर आगे बढ़ने पर हमें उसके बाद के कालखंड, जैसे कि जुरासिक काल इत्यादि मिलेंगे और मनुष्य? 11,500 वर्ष पुराना होलोसीन काल होमो सेपियन्स के वैश्विक प्रसार की शुरुआत का साक्षी है, नाखून के सिरे पर एक सूक्ष्म कण की भांति।

प्रस्तावित एंथ्रोपोसीन की शुरुआत इस सूक्ष्म कण के अंदर स्थित होगी, चाहे हम इसे 400 साल पहले शुरू हुआ मानें या 70 साल पहले। तो, क्या होमो सेपियन्स ने एक नए भूवैज्ञानिक युग का निर्माण किया है? सीधे-सीधे कहा जाए तो इस बात में दम है। भूवैज्ञानिक आंकड़ों में जलवायु परिवर्तन, परमाणु परीक्षण इत्यादि जैसी मानवीय गतिविधियों एवं हस्तक्षेप के कई उदाहरण मिल जाएंगे। लेकिन डीप टाइम की एक गहरी समझ हमें एंथ्रोपोसीन के इस लेबल से बचने की सलाह देती है। शायद वह समय आ चुका है जब हम अपनी स्वयं की छवि को बदलें और धरती पर रहने के अपने तरीके का विश्लेषण करें। ऐसा क्यों जरूरी है यह मैं आगे बताता हूं।

सामूहिक विलुप्ति

लगभग 6.6 करोड़ साल पहले एक व्यापक विलुप्ति हुई थी जिसके फलस्वरूप सभी प्रजातियों का तीन चौथाई भाग नष्ट हो गया था। यह एक विशाल उल्कापिंड के धरती से टकराने के फलस्वरूप हुआ हो, ऐसा संभव है क्योंकि उस दौरान के भूवैज्ञानिक अवशेषों से उल्कापिंडों में पाई जाने वाली धातुओं की एक पतली लेकिन विशिष्ट परत प्राप्त हुई थी। इस विलुप्ति की बदौलत स्तनधारी प्राणियों का उदय हुआ और सेनेजोइक (नया जीवन) युग की शुरुआत हुई। भूगर्भीय अवशेषों में धूमकेतु धूल की यह पतली परत बहुत मोटी पूर्ववर्ती और बाद की परतों के बीच एक संक्षिप्त लेकिन महत्वपूर्ण परत के रूप में स्थित है। लेकिन इसके बावजूद उस काल की सामूहिक विलुप्ति को कोमेटोसिन के नाम से नहीं जाना जाता। ऐसा इसलिए है क्योंकि उल्कापिंड अथवा धूमकेतु का टकराव एक घटना मात्र थी और डीप टाइम के संदर्भ में उसका योगदान बस इतना था कि उसने एक ऐसे जीवन की स्थापना की जो आनेवाले करोड़ों वर्षों तक धरती पर प्रसारित होगा।

क्या पृथ्वी पर हमारे प्रभाव के बारे में भी ऐसा ही कुछ कहा जाना सही होगा? भले ही एंथ्रोपोसीन के संकेत एवं प्रभाव परिलक्षित हो रहे हों लेकिन क्या यह संभव नहीं है कि डीप टाइम के संदर्भ में पृथ्वी पर मानवीय गतिविधियों का प्रभाव केवल एक क्षण के रूप में सिमटकर रह जाएगा? यह सच भी हो सकता है।

प्रदूषण फैला रहे पुराने वाहनों को ठिकाने लगाने के लिए राष्ट्रीय नीति की तत्काल जरूरत है

पुराने वाहनों से कैसे निपटें, सीएसई ने जारी की रिपोर्ट

प्रदूषण फैला रहे पुराने वाहनों को ठिकाने लगाने के लिए राष्ट्रीय नीति की तत्काल जरूरत है। केंद्रीय सड़क यातायात एवं राजमार्ग मंत्रालय ने अब यह नीति अधिसूचित नहीं की है। यह नीति कैसी हो और इसे कैसे प्रभावी बनाए जा सकता है, इस संबंध में सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरमेंट (सीएसई) ने वाट टू डू विद ओल्ड व्हीकल्स टूवार्ड्स इफेक्टिव स्क्रैपेज पॉलिसी एंड इन्फ्रास्ट्रक्चर रिपोर्ट जारी है।

सीएसई की कार्यकारी निदेशक (रिसर्च एंड एडवोकेसी) अनुमिता रायचौधरी की अगुवाई में तैयार की गई इस रिपोर्ट के मुताबिक, इस नीति से ग्रीन रिकवरी का एक बड़ा मौका है। राष्ट्रीय स्वच्छ वायु कार्यक्रम के तहत उत्सर्जन से संबंधित भारत स्टेज-6 (बीएस-6) मानक लागू हो रहे हैं, विद्युत वाहनों की पहल हो रही है और प्रदूषित शहरों से पुराने वाहनों को चरणबद्ध तरीके से हटाया जा रहा है। नई नीति में ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे अपनी उम्र पूरी कर चुके वाहनों को अधिक से अधिक बदला जा सके और इन वाहनों का सामान रिसाइकल व पुन: उपयोग किया जा सके।

रिपोर्ट जारी करने के दौरान सीएसई की महानिदेशक सुनीता नारायण ने कहा कि वाहनों के लगातार बढ़ने से शहरों में कबाड़ और प्रदूषण बढ़ता जा रहा है। ऐसे समय में एक प्रभावी नीति बीएस-6 उत्सर्जन मानकों में नया निवेश बढ़ाने और साफ हवा के लिए विद्युत वाहनों की संख्या बढ़ाने में मददगार होगी। द एनर्जी एंड रिसोर्स इंस्टीट्यूट (टेरी) द्वारा 2017 में प्रकाशित पोजिशन पेपर के अनुसार, वाहनों से होने वाला करीब 60 प्रतिशत प्रदूषण 10 साल से अधिक पुराने वाहनों से होता है। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड (सीपीसीबी) के अनुसार, पुराने वाहन वर्तमान मानकों से 15 गुणा अधिक प्रदूषण फैला रहे हैं। सीपीसीबी का अध्ययन बताता है कि देश भर में इस समय 90 लाख ईएलवी सड़कों पर चल रहे हैं। अनुमान के मुताबिक, 2025 तक 2.18 करोड़ ईएलवी हो जाएंगे। वियोनशॉम्पिंग विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ इंजीनियरिंग के तेजस सूर्या नाइक का जून 2018 में प्रकाशित शोधपत्र इंड ऑफ लाइफ व्हीकल्स मैनेजमेंट एट इंडियन ऑटोमोबाइल सिस्टम बताता है कि दुनियाभर में ऑटोमोबाइल का कचरा चुनौती बन चुका है। दुनियाभर में वाहनों का स्वामित्व आबादी में विकास दर से अधिक है। 2010 में वाहनों का स्वामित्व 100 करोड़ पार हो चुका है। इसी के साथ ईएलवी की संख्या भी बेतहाशा बढ़ी है। इस चुनौती से पार पाने के लिए यूरोपीय यूनियन, जापान, कोरिया, चीन और ताइवान कानूनी ढांचा बनाकर इस समस्या पर काफी हद तक काबू पा लिया है। भारत में 2010 में 11 करोड़ वाहन सड़कों पर चल रहे थे। 2010 से 2015 तक बीच अतिरिक्त 10.3 करोड़ वाहनों का उत्पादन किया गया। सड़क यातायात एवं राजमार्ग मंत्रालय के वाहन पोर्टल के मुताबिक, भारत में इस समय 25.84 करोड़ वाहनों का पंजीकरण है। अनुमान है कि 2030 तक 31.5 करोड़ वाहन सड़कों पर होंगे। सड़क पर चलने वाले वाहन पर्यावरण को प्रदूषित तो कर ही रहे हैं, साथ ही पारिस्थितिक संतुलन भी बिगाड़ रहे हैं। अगर भविष्य में इनका ठीक से प्रबंधन नहीं किया गया तो स्थिति भयावह होगी। अपनी उम्र पूरी करने के बाद वाहनों की स्क्रैपिंग जरूरी है लेकिन इनका लगातार इस्तेमाल हो रहा है। तेजस सूर्या नाइक के शोध पत्र के मुताबिक, इस वक्त अकेले दिल्ली की सड़कों पर 54.92 लाख ईएलवी हैं। 2025 तक ऐसे वाहनों की संख्या बढ़कर 77.35 लाख और 2030 तक 96.33 लाख हो जाएगी। इसी तरह चेन्नई में फिलहाल 25.18 लाख ईएलवी हैं जिनके 2025 तक 38.61 लाख और 2030 तक 49.38 लाख होने का अनुमान है। अगर इन दोनों महानगरों में वाहनों के पंजीकरण के आंकड़ों को देखें तो पता चलता है कि शहरों में कितनी तेजी से वाहनों की संख्या बढ़ रही है। दिल्ली में अभी कुल 1.13 करोड़ वाहन पंजीकृत हैं। अनुमान है कि 2025 तक दिल्ली में 1.23 करोड़ और 2030 तक पंजीकृत वाहनों की संख्या बढ़कर करीब 1.42 करोड़ हो जाएगी। साल 2030 तक पांच शहरों- दिल्ली, चेन्नई, इंदौर, पुणे और जमशेदपुर में पंजीकृत वाहनों की संख्या 2.97 करोड़ होगी। 2030 तक केवल चेन्नई, इंदौर और दिल्ली में 1.62 करोड़ वाहन अपनी उम्र पूरी कर चुके होंगे और रिसाइक्लिंग के लिए तैयार होंगे। ईएलवी के वैज्ञानिक तरीके से निपटारे और रिसाइक्लिंग की अब तक उपेक्षा की गई है। ऐसे वाहनों की वैज्ञानिक तरीके से रिसाइक्लिंग के लिए पूरे देश में फिलहाल सेरो नामक केवल एक संयंत्र उत्तर प्रदेश के गौतमबुद्धनगर नगर जिले के ग्रेटर नोएडा में चल रहा है। इसे ऑटोमोबाइल कंपनी महिंद्रा और सरकारी उपक्रम एमएसटीसी ने संयुक्त रूप से स्थापित किया है। सीपीसीबी के मुताबिक, एक कार में 70 प्रतिशत इस्पात और 7-8 प्रतिशत एलुमिनियम होता है। शेष 20-25 प्रतिशत हिस्सा प्लास्टिक, रबड़, कांच, आदि होता है। अगर पर्यावरण अनुकूल और वैज्ञानिक तरीके से रिसाइक्लिंग की जाए तो इनमें से अधिकांश चीजें दोबारा इस्तेमाल की जा सकती हैं।

सीएसई रिपोर्ट में कुछ सुझाव

डीजल से चलने वाले भारी वाहनों को प्राथमिकता के आधार पर बीएस-6 में बदला जाए

पुरानी कार और दोपहिया वाहनों को हटाने के लिए आर्थिक प्रोत्साहन दिया और 2030 तक 30-40 प्रतिशत वाहनों को विद्युतीकरण किया जाए। दिल्ली ने इस दिशा में पहल कर दी है

राज्यों में सीपीसीबी के गाइडलाइन अनिवार्य की जाएं और उन्हें राष्ट्रीय स्वच्छ वायु कार्य म से जोड़ा जाए

राष्ट्रीय नीति के उद्देश्यों के अनुसार राज्य स्तरीय स्कैपेज पॉलिसी बने जिससे ऑटोमोबाइल उद्योग सुरक्षित तरीके से पुराने वाहनों को तोड़कर पुर्जों को निकाल सकें

पुराने, अनफिट वाहनों को पहचानने का मापदंड बनाए जाए। प्रदूषण के हॉटस्पॉट में वाहनों की उम्र निर्धारित की जा सकती है

पर्यावरण को नुकसान पहुंचाए बिना स्क्रैपिंग सुविधाओं को बढ़ाए जाए। असंगठित क्षेत्र को भी इसमें शामिल जाए

वाहनों का डाटाबेस अपडेट किया जाए जिससे पुराने वाहनों की सटीक जानकारी मिल सके

बर्फ कम, ज्यादा बारिश, बदल रहा है आर्कटिक का मौसम

हम सभी अपने जीवन में एक नई जलवायु का अनुभव कर रहे हैं। हमारे ग्रह में कई ऐसे क्षेत्र हैं, जहां लाखों वर्षों तक कुछ नहीं बदलता, जैसे कि ध्रुवीय क्षेत्र, अंटार्कटिका और आर्कटिक। लेकिन अब ये क्षेत्र एक मापक यंत्र की तरह काम कर रहे हैं, जो ये बताते हैं कि इंसानों की वजह से हो रहे जलवायु परिवर्तन का कितना नुकसान हो रहा है।

यदि इन ध्रुवीय क्षेत्रों में जलवायु परिवर्तन का असर दिखने लगता है तो यह धरती के लिए शुभ संकेत नहीं हैं। दोनों ध्रुवीय क्षेत्रों पर गहरी नजर रखी जा रही है, ताकि जलवायु परिवर्तन का असर मापा जा सके।

इंसानों द्वारा उत्सर्जित ग्रीन हाउस गैस के के कारण हो रही ग्लोबल वार्मिंग का असर पहले ही आर्कटिक में दिखने लगा था, लेकिन हाल के वर्षों में यहां की जलवायु में तेजी से परिवर्तन देखने को मिला है।

मानव सभ्यता में वर्तमान पीढ़ी पहली बार धरती के इस बर्फ से ढके से हिस्से में बदलाव देख रही है। पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि हम आर्कटिक की नई जलवायु के गवाह बनने वाले हैं। इस सदी के अंत तक साल के दस महीने तक आर्कटिक में बर्फ बिलकुल भी नहीं दिखाई देगी।

नई जलवायु से आशय है, बर्फ से ढके ध्रुव में गर्मी व बारिश होना और बर्फ का कम होना, जो इसकी जलवायु में प्रमुख भूमिका निभाती है।

दरअसल, उत्तरी ध्रुव क्षेत्र नए आर्कटिक जलवायुके दौर में प्रवेश कर चुका है।

नेशनल सेंटर फॉर एटमॉस्फेरिक रिसर्च (एनसीएआर) की वैज्ञानिक लॉरा लैन्ड्रम कहती हैं, आर्कटिक पूरी तरह से अलग जलवायु में प्रवेश कर रहा है। एनसीएआर के साथी वैज्ञानिक मारिका एम. हॉलैंड के साथ लैन्ड्रम ने आर्कटिक में नई जलवायु की शुरुआत की पुष्टि की।

इनकी एक नई स्टडी (एक्स्ट्रीम्स बिकम रूटीन इन एन इमर्जिंग न्यू आकर्टिक) में कहा गया है कि साल-दर-साल आर्कटिक गर्म होता जा रहा है और अब यह नए आर्कटिक में बदल रहा है।

उनके अध्ययन में आर्कटिक क्षेत्र में तेजी से बदलाव पाए गए हैं। इसका अर्थ है कि सर्दियां में तापमान अधिक दर्ज किया जा रहा है, बर्फ कम बन रही है और यह सब अब नई सामान्य स्थिति सी बनती जा रही है।

लैंड्रम कहती हैं कि बदलाव की दर उल्लेखनीय है। इससे पहले कभी इतनी तेजी से बदलाव नहीं देखा गया। ऐसे में, यदि पिछले मौसम का आकलन करके अगले सालों का अनुमान लगाना हो तो वह भी संभव सा नहीं लगता।

लैंड्रम और होलेंड कई दशकों के आंकड़ों को खंगाल चुके हैं और विशेष कंप्यूटरों का इस्तेमाल किया, जिससे वे पुराने आर्कटिक की जलवायु चारदीवारी को बना पाए। इससे ये वैज्ञानिक पुराने आर्कटिक में आए बदलाव और उसके लिए मानव निर्मित ग्लोबल वार्मिंग के बारे में पता लगा पाए।

उन्होंने पाया कि आर्कटिक में बर्फ तेजी से पिघल रही है। दूसरा, सामान्य सर्दियों में भी इतनी बर्फ नहीं जम रही थी, जितनी कि बीसवीं सदी के मध्य में गर्मी के महीनों में जम जाया करती थी।

इसका मतलब है कि आर्कटिक के मौसमों के चरित्र में बदलाव आ रहा है। अध्ययन में पाया गया कि 21वीं सदी के मध्य तक सर्दियों में हवा का तापमान इस स्तर तक बढ़ जाएगा, जो यह बताएगा कि आर्कटिक नई जलवायु में प्रवेश कर चुका है। इसके बाद यहां बारिश बढ़ जाएगी, जिसमें बर्फ की मात्रा नहीं होगी, बल्कि सादा पानी गिरेगा।

अध्ययन में कहा गया है कि इस सदी के अंत के बाद साल के तीन से दस महीने ऐसे बीतेंगे, जब आर्कटिक में बिलकुल भी बर्फ नहीं होगी। सदी के मध्य में बारिश के दिनों में भी 20 से 60 दिन की वृद्धि हो सकती है, जो सदी का अंत आते बढ़ कर 60 से 90 दिन हो जाएंगे।

लैंड्रम कहती हैं कि आर्कटिक में अब समुद्री बर्फ, तापमान आदि चरम पर देखा जाएगा, इसलिए हमें अब आर्कटिक की जलवायु की परिभाषा बदल देनी चाहिए।

कोविड-19 के बाद भी जारी रहेगी ग्लोबल वार्मिंग

नोवल कोरोनावायरस से होने वाली बीमारी (कोविड-19) के बाद लागू लॉकडाउन की वजह से कार्बन उत्सर्जन में कमी जरूर आई थी, लेकिन कुछ समय बाद फिर से वही हालात बन गए हैं। 10 सितंबर को संयुक्त राष्ट्र की ओर से जारी यूनाइटेड इन साइंस रिपोर्ट में कहा गया कि फिर से वैश्विक तापमान (ग्लोबल वार्मिंग) में वृद्धि हो रही है। ऐसे में पेरिस समझौते को लागू कर पाना मुश्किल सा है।

इस रिपोर्ट में कोविड-19 की पृष्ठभूमि में जलवायु परिवर्तन से ग्लेशियरों, महासागरों, प्रकृति, अर्थव्यवस्थाओं और मानवजाति के जीवन पर होने वाले असर के बारे में बताया गया। रिपोर्ट में कहा गया है कि अकसर गर्म हवाएं चलना, जंगलों में आग लगना, सूखा पड़ना और बाढ़ आने की घटनाएं बढ़ रही हैं। रिपोर्ट जारी करने के बाद यूएन महासचिव एंतोनियो गुटेरेश ने कहा कि अगर वाकई दुनिया जलवायु परिवर्तन को रोकना चाहती है और तापमान में वृद्धि को 1.5 डिग्री से कम करना चाहती है तो उसके पास अब गंवाने के लिए बिल्कुल भी समय नहीं बचा है। इसके लिए दुनिया को विज्ञान पर भरोसा बढ़ाना होगा और एकजुटता के साथ निर्णायक समाधान ढूंढ़ने होंगे। उन्होंने सलाह दी कि कोविड-19 का संदेश है कि अगर हम टिकाऊ मार्ग अपनाते हैं तो कुछ हद तक लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। रिपोर्ट में कहा गया है कि वायुमण्डल में कार्बन डाईऑक्साइड (सीओ2) की सघनता अपने उच्चतम स्तर पर अभी नहीं पहुंची है और लगातार वृद्धि के रिकॉर्ड बना रही है। विश्व मौसम विज्ञान संगठन (डब्ल्यूएमओ) के 'ग्लोबल एटमोसफेयर वाच' नैटवर्क के मुताबिक साल 2020 के पहले छह महीनों में कार्बन डाईऑक्साइड की सघनता 410 पार्ट्स प्रति मिलियन से ज्यादा मापी गई। जुलाई 2020 में अमेरिका में हवाई के मॉना लोआ और ऑस्ट्रेलिया के तस्मानिया के केप ग्रिम में यह क्रमशः 414.38 पार्ट्स प्रति मिलियन और 410.04 पार्ट्स प्रति मिलियन थी। जबकि इन दोनों स्थानों पर सघनता का आंकड़ा पिछले वर्ष क्रमशः 411.74 और 407.83 था। यूएन मौसम विज्ञान एजेंसी के महासचिव पेटेरी टालस ने रिपोर्ट की प्रस्तावना में लिखा है कि ग्रीनहाउस गैसों की सघनता 30 लाख वर्षों के इतिहास में अपने सबसे उच्चतम स्तर पर है और लगातार बढ़ रही है। वर्ष 2020 की पहली छमाही में साइबेरिया के इलाकों में अधिक अवधि तक गर्म हवाओं चली और वर्ष 2016 से 2020 तक सबसे गर्म पांच सालों के रूप में मापे गये हैं। रिपोर्ट बताती है कि कोविड-19 के कारण हुए लॉकडाउन की वजह से कार्बन उत्सर्जन में चार से सात फ़ीसदी की गिरावट होने का अनुमान है। अप्रैल 2020 में जब कोविड-19 की वजह से बंदिशें अपने चरम पर थीं, तब पिछले वर्ष की तुलना में सीओ2 उत्सर्जन में 17 प्रतिशत की गिरावट दर्ज की गई, लेकिन जून महीने में यह घटकर पांच फीसदी के स्तर पर रह गई।

40 फीसदी पौधों पर मंडरा रहा है विलुप्त होने का खतरा

हाल ही में छपी रिपोर्ट स्टेट ऑफ द वर्ल्ड प्लांट्स एंड फंगी 2020 के अनुसार हर पांच में से 2 पौधों पर विलुप्ति का खतरा मंडरा रहा है। दुनिया भर में अब तक पौधों की करीब 3,50,000 प्रजातियों को खोजा जा चुका है। जिसमें से 3,25,000 फूल वाले पौधे हैं। इस हिसाब से दुनिया की करीब 140,000 पौधों की प्रजातियों पर विलुप्त होने का खतरा है, जबकि 2016 में छपी रिपोर्ट के अनुसार 21 फीसदी पौधों पर ही विलुप्ति का खतरा था।

यह रिपोर्ट 42 देशों के 210 शोधकर्ताओं द्वारा किए गए शोध का नतीजा है। अनुमान है कि धरती पर फंगी की करीब 22 से 38 लाख प्रजातियां हैं। जिनमें से अब तक करीब 148,000 प्रजातियों का पता चल चुका है, जबकि इसके बावजूद अभी भी इसकी 90 फीसदी प्रजातियों को खोजा जाना बाकी है।

रॉयल बॉटैनिकल गार्डन, केव से जुड़े अलेक्जेंड्रे एन्टोनेली के अनुसार एक ओर जहां हर साल नए पौधों और कवकों की खोज हो रही है, वहीं दूसरी ओर इन पौधों पर विलुप्ति का खतरा भी बढ़ता जा रहा है। यह दोनों एक ही सिक्के के दो पहलु हैं जिन्हें समझना बहुत जरुरी है क्योंकि इस पर ही इन प्रजातियों का भविष्य निर्भर है।

उनके अनुसार जिस तरह से इन प्रजातियों पर खतरा बढ़ता जा रहा है, उसे देखते हुए त्वरंत कार्रवाई करने की जरुरत है। उनके अनुसार जिस तेजी से नई प्रजातियों को खोजा जा रहा है उससे कहीं अधिक तेजी से प्रजातियां विलुप्त हो रही हैं। इनमें से कई प्रजातियां तो स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण हैं, जो वर्तमान और भविष्य में सामने आने वाली महामारियों की रोकथाम में अहम् भूमिका निभा सकती हैं।

7,000 से ज्यादा प्रजातियों को खाद्य पदार्थ के रूप में किया जा सकता है इस्तेमाल

रिपोर्ट से पता चला है कि मौजूदा पौधों की प्रजातियों का केवल एक छोटा सा हिस्सा ही खाद्य पदार्थों और ईंधन के रूप में उपयोग किया जा रहा है। जबकि 7,000 से अधिक पौधे ऐसे हैं जिन्हें खाद्य पदार्थ के रूप में उपयोग किया जा सकता है। इसके बावजूद कुछ गिने-चुने पौधों का उपयोग बढ़ती आबादी का पेट भरने के लिए किया जा रहा है।

आज केवल छह फसलों - मक्का, गन्ना, सोयाबीन, ताड़, सफेद सरसों और गेहूं का प्रयोग ही जैव ईंधन बनाने के लिए किया जा रहा है। गौरतलब है कि इन पौधों से दुनिया के करीब 80 फीसदी बायोफ्यूल का निर्माण किया जाता है। जबकि करीब 2,500 पौधे ऐसे हैं, जिनका उपयोग ऊर्जा के क्षेत्र में किया जा सकता है।

दुनिया भर में लकड़ी का उपयोग ईंधन के रूप में किया जाता है। अनुमान है कि उससे वैश्विक कार्बन डाइऑक्साइड का करीब 1.9 से 2.3 फीसदी हिस्सा उत्सर्जित हो रहा है। नेपाल और युगांडा जैसे देशों तो 90 फीसदी तक ऊर्जा की जरुरत के लिए इन जंगलों और उसकी लकड़ी पर ही निर्भर हैं। ऐसे में इन पौधों से उत्पन्न होने वाला बायोफ्यूल ऊर्जा सुरक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

दुनिया भर में पौधों की करीब 25,791 प्रजातियों को दवा के उपयोग लायक माना गया है। जिसमें से 5,411 को आईयूसीएन ने संकटग्रस्त प्रजाति के रूप में वर्गीकृत किया है, जबकि रिपोर्ट के अनुसार उसमें से 13 फीसदी करीब 723 प्रजातियों पर विलुप्त होने का खतरा मंडराने लगा है। दवा के रूप में इन पौधों की कितनी उपयोगिता है इसका अंदाजा आप इसी बात से लगा सकते हैं कि 1981

जलवायु नहीं, 96 फीसदी लोग हैं मौजूदा जैव संकट के जन्मदाता - रिपोर्ट

वर्तमान जैव विविधता संकट को समझने के लिए मनुष्य ने अतीत में जैव विविधता को किस तरह प्रभावित किया, यह समझना महत्वपूर्ण है। एक नए अध्ययन के अनुसार पिछले लाखों वर्षों से स्तनपायी प्रजातियों के विलुप्त होने में 96 फीसदी तक लोग जिम्मेदार हैं।

स्तनधारियों की वर्तमान विविधता में लगभग 5700 प्रजातियां हैं। इसके अलावा, कम से कम 351 स्तनपायी प्रजातियां 126,000 साल पहले पूर्व प्लीस्टोसीन की शुरुआत के बाद से विलुप्त हो चुकी हैं। जिनमें से 80 प्रजातियां (1500 ई.पू.) के बाद से ऐतिहासिक रिपोर्टों से जानी जाती हैं, जबकि अन्य सभी केवल जीवाश्म के रूप में, चिड़ियाघर संबंधी रिकॉर्ड के द्वारा जानी जाती हैं। प्लेइस्टोसिन युग को आमतौर पर उस समय अवधि के रूप में परिभाषित किया जाता है जो लगभग 26 लाख (2.6 मिलियन) साल पहले शुरू हुआ था और लगभग 11,700 साल पहले तक चला था।

पिछले 1 लाख से अधिक वर्षों में, स्तनधारियों का प्राकृतिक तौर पर विलुप्त होने की तुलना में अप्राकृतिक कारणों से विलुप्त होने की दर में 1600 गुना वृद्धि हुई है। अध्ययन में बताया गया है कि यह वृद्धि अधिकतर लोगों के कारण हुई है।

अध्ययन से पता चलता है कि जलवायु के प्रभावों से अधिक मानव प्रभावों के कारण जीव विलुप्त हो रहे हैं। प्रागैतिहासिक मनुष्यों का पहले से ही जैव विविधता पर एक महत्वपूर्ण विनाशकारी प्रभाव रहा है।

शोधकर्ता डेनियल सिल्वेस्ट्रो का दावा है कि हम पिछले 1 लाख से अधिक वर्षों के दौरान जलवायु के कारण विलुप्त होने का वास्तव में कोई सबूत नहीं दे पाए हैं। इसके बजाय हमने पाया हैं कि उस समय के दौर में स्तनपायी विलुप्त होने के लिए 96 फीसदी तक लोग जिम्मेदार थे।

कुछ विद्वानों के विचारों के साथ मतभेद है, जो मानते हैं कि अधिकांश पूर्व-ऐतिहासिक स्तनपायी विलुप्त होने के पीछे गंभीर जलवायु परिवर्तन था। बल्कि नए निष्कर्ष बताते हैं कि अतीत में स्तनपायी प्रजातियां वातावरण के अनुसार ढल जाती थी, यहां तक कि जलवायु में अत्यधिक उतार-चढ़ाव आने पर भी वे ऐसा कर सकते थे।

डेनियल सिलवेस्ट्रो कहते हैं हालांकि वर्तमान जलवायु परिवर्तन, नष्ट होते आवासों, अवैध शिकार और अन्य मानव-संबंधी प्रभावों के साथ कई प्रजातियों के लिए एक बड़ा खतरा है। यह अध्ययन साइंटिफिक जर्नल साइंस एडवांस में प्रकाशित हुआ है।

शोधकर्ताओं का निष्कर्ष जीवाश्मों के एक बड़े डेटा सेट पर आधारित है। उन्होंने पूर्व प्लीस्टोसीन युग की शुरुआत के बाद से विलुप्त हो चुकी 351 स्तनपायी प्रजातियों के आंकड़ों का संकलन और विश्लेषण किया। कई अन्य में, इनमें स्तनधारी, बड़े दांत वाले बाघ (सेबर-टूथ टाइगर) और विशालकाय प्रजातिया शामिल थीं। शोधकर्ताओं ने बताया कि इस अध्ययन में जूलॉजिकल सोसायटी ऑफ लंदन द्वारा प्रदान किए गए जीवाश्म डेटा का महत्वपूर्ण योगदान था। गोथेनबर्ग विश्वविद्यालय के टोबियास अंडमान कहते हैं ये विलुप्तियां लगातार नहीं हुईं। इसके बजाय विलुप्त होने की तीव्रता का पता विभिन्न महाद्वीपों में ऐसे समय लगाया जाता है जब मानव पहली बार उन तक पहुंचा। इस बार दुनिया भर में देखा गया है कि लोगों के कारण जीवों की विलुप्तता की दर में फिर से तेजी आई है। शोधकर्ताओं के अनुसार स्तनधारियों की वर्तमान विलुप्ति दर डायनासोर युग के अंत के बाद से सबसे बड़ी विलुप्त होने की घटना है। कंप्यूटर-आधारित सिमुलेशन का उपयोग करते हुए उन्होंने अनुमान लगाया हैं कि ये दरें तेजी से बढ़ती रहेंगी। वर्ष 2100 तक प्राकृतिक स्तर से 30,000 गुना अधिक तक पहुंचने के आसार हैं। ऐसा तब होता है जब मानव व्यवहार और जैव विविधता में गिरावट जारी रहती है।

टोबियास अंडमान ने अपने निष्कर्ष में कहा कि - इन गंभीर अनुमानों के बावजूद, स्थिति अभी भी बदली जा सकती है। हजारों प्रजातियों को कुशल संरक्षण रणनीतियों के साथ विलुप्त होने से बचाया जा सकता है। लेकिन इसे हासिल करने के लिए, हमें जैव विविधता के संकट के बढ़ते विस्तार के बारे में अपनी सामूहिक जागरूकता बढ़ाने की जरूरत है। इस वैश्विक आपातकाल का मुकाबला करने की दिशा में हमें कदम उठाना होगा। हर लुप्त प्रजाति के साथ, हम अपरिवर्तनीय रूप से पृथ्वी के प्राकृतिक इतिहास के एक अनूठे हिस्से को खो देते हैं।

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक सोनल मेहता केलिए प्रतीक्षा ग्राफिक्स, 127 देवी अहिल्या मार्ग, इंदौर (म.प्र.) से मुद्रित एवं 209-बी शहनाई रेसीडेंसी-2 कनाड़िया रोड इंदौर (म.प्र.) से प्रकाशित। संपादक: डॉ. सोनल मेहता फोन : 0731-2595008 Mail.sonal12mehta@yahoo.co.in 9755040008